



International Journal of Sociology and Humanities

ISSN Print: 2664-8679
ISSN Online: 2664-8687
Impact Factor: RJIF 8
IJSJH 2023; 5(1): 17-19
www.sociologyjournal.net
Received: 05-02-2023
Accepted: 11-03-2023

Dr. Deepak Kumar Gupta
Assistant Professor,
Department of Philosophy,
Lakshmbai College,
University of Delhi, New
Delhi, India

भर्तृहरि के दर्शन में ज्ञान का विश्लेषण

Dr. Deepak Kumar Gupta

DOI: <https://doi.org/10.33545/26648679.2023.v5.i1a.36>

सारांश

इस लेख में मुख्य रूप से ज्ञान क्या है? इसका विषय और स्वरूप क्या है? का विश्लेषण करने के साथ ही इस तथ्य का भी विश्लेषण किया जायेगा कि ज्ञान को क्रियाशील माना जाये या अक्रियाशील।

कूटशब्द: भर्तृहरि, ज्ञान, शब्दतत्व, ब्रह्मतत्व, चैतन्य, वाक्यपदीय

प्रस्तावना

भारतीय दार्शनिक परम्परा में ज्ञान के स्वरूप को लेकर एकमत नहीं है बल्कि विभिन्न मत प्रतिपादित किये गये हैं। कुछ दर्शनों में इसे 'द्रव्य' रूप माना गया है तो कुछ में इसे 'गुण' माना गया है। इस मान्यता के मूल में प्रश्न यह है कि आत्मा अथवा चेतन के साथ ज्ञान का कैसा सम्बन्ध है? ज्ञान चेतना का स्वरूप है अथवा गुण है। ज्ञान को चेतना का स्वरूप न मानकर गुण मानने पर यह प्रश्न उठता है कि ज्ञान अनिवार्य गुण है अथवा आकस्मिक गुण है।

भौतिकवादी चार्वाक दर्शन आत्मा आदि किसी भी आध्यात्मिक सत्ता को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार ज्ञान अथवा चैतन्य शरीर का ही आगन्तुक गुण है। न्याय दर्शन ने चार्वाक मत का खण्डन किया तथा यह प्रतिपादित किया कि चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण है। इनके अनुसार आत्मा स्वयं में चेतन अथवा चैतन्यस्वरूप नहीं है। जब विषय इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के साथ आत्मा का संयोग होता है तभी उसमें ज्ञान अथवा चैतन्य रूपी गुण उत्पन्न होता है। प्रभाकर मीमांसक भी ज्ञान को आत्मा का अगन्तुक गुण मानते हैं। वहीं रामानुज तथा जैन दार्शनिक ज्ञान को आत्मा का अनिवार्य गुण मानते हैं। इनके अनुसार आत्मा में और स्वप्न की अवस्था में यह अन्तर है कि स्वप्न में वाक्यतत्त्व बाह्य रूप से विवृत्त नहीं होता जबकि जाग्रत अवस्था में वह बाह्यरूप से विवृत्त होता है। इस प्रकार स्वप्नावस्था में भी पदार्थों का ज्ञान होने से उस अवस्था के ज्ञान को शब्दानुविद्ध होना माना जायेगा। स्वप्नावस्था में भी वाक्यतत्त्व अपने आपको कर्तृ-कर्मभाव में विभक्त करके, निर्वृत्य, विकार्य और प्राप्य कर्मों के स्वरूप को प्राप्त होता है।¹

भर्तृहरि के अनुसार शब्दतत्व ही ब्रह्मतत्व है जो चैतन्य, संवित्, ज्योति, प्रकाश और ज्ञान रूप है। शब्दरूपता और ज्ञानरूपता के कारण वह ब्रह्म ज्योति या अन्तःप्रकाश कहा जाता है। वह विधात्मक तत्व है।² शब्द ब्रह्म एक है, विधा उसका अविभक्त रूप अथवा स्वरूप है। विधा प्रणव स्वभाव से युक्त है। प्रणव ही ब्रह्म है और वही विधा है। इस प्रकार भर्तृहरि ज्ञान को चेतना का स्वरूप ही मानते हैं, चेतना का गुण अथवा कर्म नहीं।

ज्ञान के स्वरूप को लेकर एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया जा सकता है कि ज्ञान क्रिया रूप अर्थात् क्रियात्मक है या यह निष्क्रियता है अर्थात् इसमें क्रियाशीलता नहीं है।

इस प्रश्न के संदर्भ में दो मत दिखाई देते हैं। सांख्य-योग तथा अद्वैत-वेदान्त ज्ञान को क्रियाशील नहीं मानते हैं। जबकि काश्मीर शैवदर्शन में ज्ञान क्रिया रूप है। आधारभूत रूप से ज्ञान की क्रियाशीलता अथवा निष्क्रियता इस बात पर निर्भर है कि चैतन्य तत्व स्वरूपतः क्रियाशील है अथवा निष्क्रिय है। यहाँ भर्तृहरि के दार्शनिक सिद्धांतों की व्याख्या दो दृष्टियों से की जा सकती है— एक अद्वैत-वेदान्त के आलोक में तथा दूसरी काश्मीर शैवदर्शन अथवा तान्त्रिक दर्शन के आलोक में।

भर्तृहरि के टीकाकार पुण्यराज, हेलाराज आदि अद्वैत-वेदान्त के प्रभाव में ही भर्तृहरि की व्याख्या प्रायः करते हैं। किन्तु भर्तृहरि की व्याख्या काश्मीर शैवदर्शन के आलोक में अथवा उसकी दृष्टि से भी की जा सकती है। दोनों ही पक्षों के समर्थन में आधार वाक्यपदीय में प्राप्त होता है। अतः अद्वैत-वेदान्त और काश्मीर शैवदर्शन के मत को समझना भर्तृहरि पर विचार करने के लिए आवश्यक है।

Corresponding Author:
Dr. Deepak Kumar Gupta
Assistant Professor,
Department of Philosophy,
Lakshmbai College,
University of Delhi, New
Delhi, India

अद्वैत-वेदान्ती और कश्मीर शैव दार्शनिक दोनों ही ज्ञान को आत्मा का स्वरूप होना मानते हैं, किन्तु दोनों की मूलभूत मान्यताओं में प्रमुख भेद यह है कि अद्वैत-वेदान्त के अनुसार ज्ञान निष्क्रियता की अवस्था है, जबकि काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार ज्ञान क्रिया रूप है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार ज्ञान वस्तुतन्त्र है जबकि काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार ज्ञान पुरुषतन्त्र है। अद्वैत-वेदान्ती यह मानते हैं कि ज्ञान के क्षणों में ज्ञाता निष्क्रिय रहता है तथा विषय का ज्ञान अपने आप ज्ञाता को होता है, ज्ञान प्राप्त करने में ज्ञाता कोई क्रिया नहीं करता है। जबकि काश्मीर शैवदार्शनिक कहते हैं कि यद्यपि ज्ञान के क्षणों में कोई प्रत्यक्ष नहीं करते किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम निष्क्रिय रहते हैं। वहाँ भी हम क्रियाशील रहते हैं, यद्यपि हमारी यह क्रिया अनायास क्रिया अथवा स्पन्द क्रिया होती है। इसे निष्क्रियता की अवस्था केवल इस अर्थ में कहा जा सकता है कि यह कर्ता की ऐच्छिक क्रिया नहीं है। किन्तु वस्तु का ज्ञान होने का तात्पर्य होता है कि हम वस्तु को जानने की क्रिया करते हैं अथवा वस्तु को ज्ञान रूप में ग्रहण करते हैं। यह ग्रहण क्रिया आपदित करता है।

शब्दब्रह्म के स्वरूप निरूपण के क्रम में वाक्यपदीय की प्रथम कारिका में 'विवर्तते' शब्द का प्रयोग किया गया है।³ अद्वैत-वेदान्त में प्रतिपादित 'विवर्तवाद' की दृष्टि से इसकी व्याख्या करने पर शब्दब्रह्म निष्क्रिय तत्त्व हुआ तथा इस प्रकार चेतना एवं ज्ञान निष्क्रियता मानी जायेगी, क्रियाशीलता नहीं। किन्तु वाक्यपदीय में ही 'परिणाम'⁴ शब्द का प्रयोग मिलता है जिसके अनुसार यह जगत् शब्द का परिणाम है तथा शब्दब्रह्म को अपनी शक्ति, कालशक्ति से अपृथक् होते हुए भी पृथक् जैसा प्रतीत होने की बात कही गई है। इस दृष्टि से शब्दब्रह्म शक्तिमान्, शक्तिरूप तथा क्रियाशील माना जायेगा एवं इस दृष्टि से चेतना या ज्ञान को भी क्रियाशील माना जायेगा।

ज्ञान के स्वरूप के विषय में तीसरा महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि ज्ञान वस्तु को प्रकाशित करता है किन्तु स्वयं ज्ञान किस प्रकार ज्ञात होता है।

न्यायदर्शन में यह माना गया है कि ज्ञान उसी प्रकार ज्ञात होता है जिस प्रकार अन्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान भी 'ज्ञान' का विषय है जो एक के बाद दूसरे ज्ञान द्वारा, अणु व्यवसाय द्वारा, ज्ञात होता है। जैसे 'मैं मेज को जानता हूँ' वह हमारा प्रथम ज्ञान हुआ तथा 'मैं जानता हूँ' कि 'मैं मेज को जानता हूँ', यह हमारा दूसरा ज्ञान अथवा ज्ञान के बाद ज्ञान हुआ। कहने का तात्पर्य यह कि प्रथम ज्ञान में हमारे ज्ञान का विषय 'मेज' है। दूसरे ज्ञान में हमारे ज्ञान का विषय 'मेज के ज्ञान का ज्ञान' हुआ अर्थात् ज्ञान ही ज्ञान का विषय हुआ।

अद्वैत-वेदान्त, काश्मीर शैवदर्शन तथा भर्तृहरि के दर्शन में ज्ञान को स्वप्रकाश माना गया है। इसके अनुसार ज्ञान विषय को प्रकाशित करने में स्वयं ही प्रकाशित होता है। काश्मीर शैव दर्शनियों ने अपने पक्ष को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ज्ञान विषय के रूप में ज्ञाता नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान सदैव ज्ञाता को अर्थात् ज्ञाता के पक्ष में होता है न कि ज्ञान के अर्थात् ज्ञान ज्ञाता का भाग होता है। ज्ञान को जानना ज्ञाता को जानना है। ज्ञाता को ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता है क्योंकि ज्ञाता सदैव ज्ञेय से पूर्व रहता है। ज्ञाता विषयी को ज्ञान का विषय कहना वदतोव्याघात् है, ज्ञान विषय ज्ञान नहीं है वरन् विषय को जानना ज्ञान है।

इस प्रकार ज्ञान विषय के रूप में ज्ञात नहीं हो सकता किन्तु यह भी एक तथ्य है कि हम अपने ज्ञान को जानते हैं। यहाँ काश्मीर शैवदार्शनिकों का मत है कि ज्ञान अन्य वस्तुओं, मेजद्ध ज्ञेय नहीं है, वरन् ज्ञान स्वयं प्रकाश है। विषय को प्रकाशित करने में ज्ञान भी स्वयं प्रकाशित होता है। प्रकाश वस्तु को प्रकाशित करता है तथा उसी समय स्वयं को भी उसी प्रक्रिया में प्रकाशित करता है।

ज्ञान के स्वयं प्रकाशता का प्रतिपादन भर्तृहरि के वाक्यपदीय में स्पष्ट रूप से मिलता है। उनके अनुसार शब्द अपने उच्चारण द्वारा वाह्यार्थ तथा स्वरूपार्थ दोनों को ही अभिव्यक्त करता है।⁵ ज्ञान ज्ञेय पदार्थ के आरोपण से समन्वित रूप में ही प्रतिभासित होता है, इस प्रकार वह सदैव विषयाकार के अधेन माना जाता है। ज्ञेयाकार के साथ-साथ ज्ञान के स्वरूप का निर्देश आवश्यक नहीं हो तो भी एक रूपविषयक ज्ञान से रसादिविषयक ज्ञान के परिच्छिन्न होने से भिन्न ज्ञान के समान अपनी ही स्वरूप मात्रा का भी वह प्रदर्शन करता है। इसी आधार पर ज्ञानान्तर से उपलब्ध न होने वाले अतीत ज्ञान की स्मृतिविषयता प्रतिपादित की जाती है। जिस विषय का अनुभव नहीं होता उसकी स्मृति भी नहीं होती। अतः यह स्वीकार किया जायेगा कि ज्ञेयाकार के साथ ज्ञानस्वरूप का भी अनुभव होता है। इसीलिए उसकी स्मृति भी होती है।⁶

भर्तृहरि कहते हैं कि प्रकाशात्मक होने से संवित् जहाँ वैकल्पिक आकारों को प्रकाशित करती है, वहाँ अपने आपको भी प्रकाशित करती है। प्रकाश का विशिष्टता ही यह है कि वह एक ही व्यापार द्वारा 'स्व' और 'पर' दोनों को प्रकाशित करता है। घट आदि के प्रकाशक दीपक के समान वैकल्पिक अर्थों का प्रकाशन ज्ञान भी स्व-प्रकाशार्थ अन्य किसी प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता है, दीपक के समान वह अपना प्रकाशक स्वयं है।⁷

वैयाकरण कहते हैं कि यदि अर्थ-प्रकाशन काल में अर्थ प्रकाशन ज्ञान को स्वयं प्रकाशन माना जाए तो उस समय में वह अर्थ का प्रकाशक नहीं हो सकता, क्योंकि तब ज्ञान का प्रकाशक अन्य कोई हेतु उपस्थित नहीं होने से, यदि वह स्वयं प्रकाश न हो, तो स्वयं प्रकाशित न होने के कारण अर्थ का भी प्रकाशक वह कैसे होगा? बुझे दीपक से किसका प्रकाश होता है? अर्थ का प्रकाश तो होता ही है तथा यह ज्ञान द्वारा होता है, यह सत्य है। अतः ज्ञान स्वयं प्रकाश है।⁸

इस प्रकार निष्कर्षतः हम देखते हैं कि भाषा आदि की आवश्यकता 'ज्ञान' की प्राप्ति के लिए ही है। भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व को ब्रह्मतत्त्व माना है और इसी को ज्ञान रूप स्वीकार किया है। भर्तृहरि ने ज्ञान को चेतना का गुण अथवा कर्म न मानकर चेतना का स्वरूप माना है। जबकि कुछ अन्य दार्शनिक ज्ञान को गुण आदि भी स्वीकार करते हैं। यहाँ एक महत्वपूर्ण बिन्दु यह है कि ज्ञान को क्रियाशील माना जाए या अक्रियाशील। इस बिन्दु पर एक सहमति नहीं है। सांख्य-योग तथा अद्वैत-वेदान्ती ज्ञान को क्रियाशील नहीं मानते हैं वहीं काश्मीर शैवदर्शन में ज्ञान क्रिया रूप है। यहाँ एक दिलचस्प बात यह है कि यह दोनों मत भर्तृहरि के दर्शन पर आधारित करके ही दिया जाता है। चूँकि अद्वैत-वेदान्ती और काश्मीर शैव दार्शनिक दोनों ही ज्ञान को आत्मा का स्वरूप होना मानते हैं परन्तु दोनों की मूल मान्यताओं में भेद है।

वाक्यपदीय के आलोक में अद्वैतवेदान्ती 'विवर्तन' शब्द की व्याख्या विवर्तवाद से करते हुए शब्द ब्रह्म को निष्क्रिय मानते हैं, वहीं दूसरी ओर 'परिणाम' शब्द की व्याख्या परिणामवाद से करते हुए शब्द ब्रह्म को क्रियाशील माना गया है। अद्वैतवेदान्त, काश्मीर शैवदर्शन तथा भर्तृहरि ने ज्ञान की प्रकाशकता के संदर्भ में ज्ञान को स्वप्रकाश माना है। इनका मानना है कि ज्ञान विषय को प्रकाशित करने में स्वयं ही प्रकाशित होता है।

संदर्भ

1. प्रविभागे यथा कर्ता तथा कार्ये प्रवर्तते।
अविभागे तथा सर्वे कार्यत्वेनावतिष्ठते।। - वाक्यपदीय
1/119
2. शान्तं विधत्तमकं तत्त्वं, ब्रह्मद्द तद्दुहैतदविध्या।
तया ग्रस्तमिवाजसत्रां या निर्वस्तुं न शक्यते।। - वा.प. 1/8
पर वृत्ति

3. अनादि निध्नं ब्रह्म शब्द तत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ -वा.प. 1/1
4. शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथमेतद्विश्वं व्यवर्तते॥ -वा.प. 1/121
5. एकमेव यदाम्नात् भिन्नशक्तिव्यपाश्रयात्।
अपृथक्त्वेपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते॥ -वा.प. 1/2
6. आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते॥ -वा.प. 1/48
7. यथा ज्ञानं ज्ञेयपरतन्त्रां
ज्ञेयरूपप्रत्यवभासत्वादनिदेश्यस्वरूपमपि ज्ञानान्तरस्येव भिन्नं
स्वस्यैवात्मनः स्वरूपमात्रां दर्शयति तथा ह्यतीतमनुपलब्ध्यन्येन
ज्ञानेन स्मृतिविषयत्वं प्रतिपाद्यते। -वा.प. 1/48, पर वृत्ति
8. यथा व्योतिः प्रकाशेन नान्येनाभिप्रकाशयते। ज्ञानाकारस्तथान्येन
न ज्ञानेनोपगृह्यते॥ -वा.प. 3/1/104
9. काश्मीरशैवदर्शन मूलसिद्धान्तः : डॉ. कैलाशपति मिश्र,
अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी, सन् 1973
10. दार्शनिक विश्लेषण परिचय : हासर्स, अनु. भट्ट, गोवर्धन,
विहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1972
11. पाणिनीयव्याकरणसमीक्षा : डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी, सं.सं.वि.,
सन् 1974
12. भर्तृहरिः प्राचीन टीकाओं के प्रकाश में वाक्यपदीय का एक
अध्ययनद्धः के.ए. सुब्रह्मण्य अयर ;अनुवादक- डॉ. रामचन्द्र
द्विवेदी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, सन् 1981
ई.
13. भाषा तत्त्व और वाक्यपदीय : डॉ. सत्यकाम वर्मा, भारतीय
प्रकाशन, दिल्ली, सन् 1964 ई.
14. वाक्यपदीय संबंध समुद्देश ;हेलाराज व्याख्या के प्रकाश में एक
विवेचनात्मक अध्ययन द्ध :डॉ. वीरेन्द्र शर्मा, विश्वेश्वरानन्द
विश्वबन्धु संस्कृत- भारती-शोध संस्थान, पंजाब
विश्वविद्यालय, होशियारपुर, सन् 1977 ई.
15. वाक्यपदीय,ब्रह्मकाण्ड : भर्तृहरि, ज्ञा, द्रव्येशप्रणीत, प्रत्येकार्य
प्रकाशिका सहित, वृन्दावन, 1924
16. वाक्यपदीय ;ब्रह्मकाण्ड वृत्ति व पद्धति सहितद्ध : के.ए.
सुब्रह्मण्य अयर, डेकेन कॉलेज, पूना, सन् 1966 ई.
17. वैयाकरण सिद्धान्त परम लघुमंजूशा : नागेश भट्ट, डॉ.
कपिलदेव शास्त्री, कुरुक्षेत्रा प्रकाशन, सन् 1975 ई.
18. शैव-सिद्धान्तदर्शन : डॉ. कैलाशपति मिश्र, अर्द्धनारीश्वर
प्रकाशन, वाराणसी, सन् 1972
19. श्लोकवार्तिक : कुमारिल भट्ट, एस.के. रामनाथ शास्त्री,
मद्रास, विश्वविद्यालय, संस्कृत सीरीज, मद्रास, सन् 1940 ई.
20. संस्कृत साहित्य का इतिहास : डॉ. ए.बी. कीथ ;अनुवादकद्ध
डॉ. मंगलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, सन् 1967 ई.
21. Chakrabarti PC. The Philosophy of Sanskrit Grammar,
University of Calcutta; c1950.
22. Iyer KA. Subramania: The Vakyapadiya of Bhartrihari
With the Vritti, Chapter-1, English Translation, Deccan
College, Poona, 1st Edition; c1965.
23. Pandey RC. Problem of Meaning in Indian Philosophy,
Motilal Banarsidass, Delhi; c1963.